"मुस्कान की कली" की प्रस्तावनाओं पर एक दृष्टि[1]

नियाज़ मन्दान-ए-लाहौर[2]

पतरस बुख़ारी

(तमकीन काज़िमी की हास्य-निबंधों पर आधारित पुस्तक "मुस्कान की कली" पर लेखक के अतिरिक्त उर्दू के चार और जाने-माने लेखकों (नियाज़ फ़तेहपुरी, मौलाना अहसान मारहरवी, मुल्ला रमूज़ी और मौलवी अब्दुल मुनइम सईदी) ने प्रस्तावनाएँ लिखीं। पतरस बुख़ारी ने अहंकार की नुमाइश, मिथ्या-ज्ञान प्रदर्शन और लेखकों में साहित्यिक मानकों से समझौता करके मित्रता-निर्वहन, अध्ययन में काहिली, आलोचनात्मक कुटिलता और स्व-प्रचार की भोंडी हरकतों पर तीखा व्यंग्य किया है। पतरस बुख़ारी हलके-फुल्के अंदाज़ में गहरे व उत्कृष्ट हास्य-लेखन के लिए प्रसिद्द हैं, लेकिन इस लेख में उनके व्यंग्य की धार बहुत पैनी व चुभती हुई है। उन्होंने उर्दू साहित्य के अपने समय के बड़े-बड़े गुब्बारों में छेद कर दिया है। हालाँकि यह लेख एक विशेष पुस्तक के सन्दर्भ में लिखा गया है, लेकिन इसे समझने और इसका आनंद लेने के लिए उस पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता नहीं महसूस होती।---- अनुवादक*)*

हाल ही में तमकीन काज़िमी साहब के निबंधों का संग्रह "मुस्कान की कली" के नाम से हैदराबाद दकन से प्रकाशित हुआ है। पुस्तक के शुरू में पाँच प्रस्तावनाएँ हैं। एक प्रस्तावना काज़िमी साहब की अपनी लिखी हुई है। बाक़ी चार प्रस्तावनाएँ चार अन्य सुविख्यात लिखारियों की लेखनियों से निकली हैं।

कुछ अरसे से हम देख रहे हैं कि प्रस्तावनाओं का रोग हिन्दुस्तान में बढ़ रहा है। मुल्ला पुस्तक प्रकाशित करता है तो हाजी उस पर प्रस्तावना लिखता है। हाजी क़लम उठाता है तो मुल्ला उसका परिचय कराता है। मतलब इससे अधिक कुछ नहीं होता कि " *मन तुरा मुल्ला बेगोयम, तू मरा हाजी बेगो* (मैं तुझे मुल्ला कहूँ, तू मुझको हाजी कह)। यहाँ तो ख़ैर कहा जा सकता है कि देश में अभी तक अनपढ़ों की अधिकता है और हमारे क़लमकार इतनी दुर्गम बातें लिखते हैं कि जब तक एक लेखक के आशय को, उसी स्तर का दूसरा लेखक आशु प्रकाशन द्वारा लोगों के सामने हल करके न रख दे तो मानव जाति की एक बहुत बड़ी संख्या उसके लाभ से वंचित रह जाती है। लेकिन "मुस्कान की कली" की एक प्रति के साथ चार-चार भाषा-पंडितों की प्रयोग-विधि

---

[1] उर्दू शीर्षक है " "गुन्चा-ए-तबस्सुम" के दीबाचों पर एक नज़र"। (अनुवादक)

[2] लाहौर में आधुनिक विचारों एवं रुझानों वाले नौजवान लेखकों व कवियों की एक मंडली, जिसने बीसवीं शताब्दी के दूसरे से चौथे दशक में उर्दू साहित्य में काफ़ी हलचल मचाए रखी। पतरस बुख़ारी इस मंडली के महत्वपूर्ण लेखक थे।

संलग्न करना ज़ीरे के मुँह में ऊँट के बराबर है। तमकीन काज़िमी साहब के नाम और उनके साहित्यिक कारनामों से हिंदुस्तान का हर पढ़ा-लिखा आदमी कमोबेश वाक़िफ़ है। क्या उनकी अब यह हालत हो गई है कि जब तक चार आदमी उन्हें कन्धा न दें वे हिल-डुल नहीं सकते?

और फिर प्रस्तावनाएँ भी ऐसी कि उनसे न तो तमकीन साहब के लालित्यपूर्ण लेखन शैली की शान में कोई इज़ाफ़ा होता है न प्रास्तावना लेखकों की काव्य-मर्मज्ञता की शान में चार चाँद लगते हैं। अलबत्ता मानव स्वभाव के इस महत्वपूर्ण उसूल पर प्रकाश ज़रूर पड़ता है कि *ता मर्द सुख़न नगुफ़्ते बाशद॥ एबो-हुनरश नहुफ़्ते बाशद* (अर्थात जब तक आदमी बोलता नहीं है, उसके ऐब व हुनर छिपे होते हैं)। यह आरम्भ ही में शेख़ 'सादी' की आड़ हमने इसलिए ली कि हम बहरहाल पाठकों के बहुसंख्यक समूह के चंद साधारण व्यक्ति हैं, और प्रस्तावना-लिखने वाले सज्जन बहरहाल साहित्यकार, अतः ईश्वर के चंद विलक्षण प्राणियों में से हैं। वरना जो बात इस शेर में शेख़ 'सादी' कह गए हैं , हम अपने शब्दों में अधिक शोध, अधिक शक्ति और अधिक स्पष्टता के साथ बयान करने वाले हैं।

पहली प्रस्तावना तमकीन काज़िमी साहब ने स्वयं लिखी है, लेकिन इसे प्रस्तावना नहीं कहा। "आमुख" की उपाधि प्रदान की है। दूसरी प्रस्तावना का नाम "प्राक्कथन", तीसरी का नाम "प्रभावान्विति", चौथी का नाम "परिचय" और पाँचवीं का नाम "उपक्रम" है। (हमारा निजी विचार यह है कि छठी प्रस्तावना न लिखवाने का कारण यह है कि उसके लिए इस प्रकार का शक्तिवर्धक शीर्षक न मिल सका होगा। भारी-भरकम शब्दों का यह प्रयोग पुस्तक में जगह-जगह पाया जाता है। विषय-सूची को "विषयानुक्रमणिका" लिखा गया है। पुस्तक का टीकात्मक शीर्षक "विनोदपूर्ण रचनाओं का कुसुम-संग्रह" है। समझ में नहीं आता कि नवीनता के पीछे यूँ ही हाथ धोकर पड़ना था तो "पृष्ठ" के बजाय "पुस्तक-पत्र" और "मिलने के पते" के बजाय "गंतव्य-प्राप्ति-पथ" और "मूल्य" के बजाय "अनुदान राशि", या "उपहार राशि" क्यों न लिख दिया। अगर केवल शब्दों के आतंक से रौब डालना प्रयोजन हो तो फिर शब्दकोश के बाद किसी और पुस्तक के लिखने की आवश्यकता ही क्या है। अलबत्ता अगर शीर्षकों में यह गुण है कि हर एक अक्षर की संख्याओं के योगफल से पुस्तक की रचना-तिथि निकलती है तो मजबूरी है।

हाँ तो हम तमकीन साहब के "आमुख" का ज़िक्र कर रहे थे। चार प्रस्तावनाओं में अपनी प्रशंसा करवाने के बाद भी तमकीन साहब के अहंकार की तुष्टि न हुई तो उन्होंने ख़ुद लेखनी उठा ली। शुरू में तो लिख दिया "परम-दयालु व परम प्रभु परमेश्वर के नाम" लेकिन ईश्वर का नाम लेने के बाद संभाला लिया और तीन पृष्ठों तक "अनल-हक़ (अहम् ब्रह्मास्मि) ही कहते चले गए। जगह-जगह तिथियों का उद्धरण साथ-साथ दिया है ताकि भविष्य के इतिहासकार को कोई कठिनाई पेश न आये। 1927 ई.। में मैंने यह किया। 1929 ई.। में मैंने यह किया। 1930 ई. और 1931 ई. के आरम्भ में व्यस्त ज़्यादा रहना पड़ा और "उई अल्लाह पत्रिकाओं के संपादकों ने निबंधों के लिए मांगों की भरमार से नाक में दम कर दिया।" आगे चलकर फ़रमाते हैं:

" कुछ निबंधों की भाषा पर अक्सर मित्रों को आपत्ति होगी क्योंकि अक्सर जगह मैंने जानबूझकर दकनी भाषा और मुहावरा प्रयोग करने का प्रयास किया है और विशेष रूप से उन निबंधों में अधिक प्रयास

किया गया है जो हैदराबाद की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं या जिन निबंधों में हैदराबाद के समाज व संस्कृति के चित्रण का प्रयास किया गया है।"

यह जगह-जगह "प्रयास" के शब्द के नीचे हमने रेखाएँ इसलिए खींच दी हैं ताकि आपको मालूम हो जाए कि तमकीन साहब ने कितनी दफ़ा और किस सुन्दरता से प्रयास किया है। श्लाघ्य प्रयास संभवतः इसी को कहते हैं। अगर तमकीन साहब को इसी तरह की फुसफुसी भाषा लिखने पर आग्रह है तो हम उनको यही सुझाव देंगे कि "तुरा मुल्क दक्खिन तू दखिनिच बोल" (तेरा देश दकन है तू दकनी ही बोल) लेकिन तमकीन साहब का अहंकार इस हद तक पहुँच चुका है कि इस तरह के अमृत वचनों की वर्षा करने के बाद भी फ़रमाते हैं:

"मेरी मातृभाषा उर्दू है और मैंने उर्दू का गहरा अध्ययन किया है"

न सिर्फ़ यह बल्कि कहते हैं!

"मैं चाहता तो ठेठ यू.पी. के मुहावरे प्रयोग कर सकता था।"

इस अगाध ज्ञान और इस वाग्मिता के बावजूद केवल एक वाक्य में इतने प्रयास बल्कि परिश्रम करने की ज़रुरत आख़िर क्यों पेश आई?

तमकीन साहब ने अपनी पुस्तक में कई दकनी शब्द प्रयोग किये हैं। उनके सम्बन्ध में प्रस्तावना में फ़रमाते हैं:

"कुछ मित्रों का विचार था कि अंत में एक शब्दावली लगाई जाए, मगर मैं इस अरसिकता के विरुद्ध हूँ। जिन्हें ज़रुरत होगी वे किसी हैदराबादी से पूछ लेंगे या मुझसे पता कर लेंगे।"

अल्हम्दुलिल्लाह कि आपको भी रसिकता का ख़याल आया। क्यों हज़रत, एक पुस्तक की चार-चार प्रस्तावनाएँ अरसिकता नहीं? हर प्रस्तावना में अपनी प्रशंसा बल्कि कभी-कभी अपनी डायरेक्टरी तक छपवा देना अरसिकता नहीं? हर नोट में बार-बार अपनी ओर इशारा करना अरसिकता नहीं? लेकिन जो शब्द किसी शब्दकोश में न पाए जाते हों, उनके अर्थ बता देना अरसिकता है? क्या आपको कोई ऐसा मित्र न मिला जो यह काम भी कर देता? जहाँ इतने रंगबिरंगे व नानाविध शीर्षक स्थापित किये थे वहीं "दकनी उर्दू भाषा व साहित्य अध्ययन" का एक और शीर्षक भी बढ़ा देते। बाक़ी रही आपकी रसिकता सो उसका एक और नमूना देखें। अपने कातिब (सुलेखक) के बारे में फ़रमाते हैं कि शीघ्र लिखते हैं मगर,

"बेहद ग़लत लिखते हैं और अत्यंत अनियमित, बहुत अशिक्षित हैं, जिन्होंने इमले की ग़लतियों के अलावा जुमले के जुमले छोड़ दिए।"

दिल की भड़ास भी निकाली तो बेचारे कातिब पर जिसे न विद्वान होने का दावा न ज्ञानी होने का। और ख़ुदे के वास्ते यह तो बताइए कि यह "इमले की ग़लतियों" जो आपने लिखा है तो यह कातिब ने ग़लत लिखा या आपने दकनी लालित्य-लेखन के उसूलों के अनुसार लिखा? और कातिब साहब के अशिक्षित होने को भला आप कहाँ-कहाँ तक पेश करते फिरेंगे। क्या अर्नेस्ट के अनुवाद में "एल्जेनन" (Algenon) को एल्गरनान

लिखना भी उन्हीं के सिर थोपिएगा? अशिक्षित होना कोई ऐसी विशेषता नहीं जो केवल कातिबों में पाई जाती हो।

मौलाना नियाज़ फ़तेहपूरी के "प्राक्कथन" के सम्बन्ध में हम हैरान हैं कि क्या कहें और क्या किसी और समय के लिए उठा रखें। तीन संक्षिप्त पृष्ठों के अन्दर उन्होंने अपनी अविद्वता, चित्तभ्रम और त्रुटिपूर्ण लेखन की इतनी मिसालें जमा कर दी हैं कि इससे बेहतर व्यापकता की मिसाल उर्दू में मुश्किल से मिलती है। प्रस्तावना का आरम्भ यूँ होता है:

"मुस्कान की कली" जनाब तमकीन काज़िमी के उन निबंधों का संग्रह है जो विनोदपूर्ण-लेखन के सिलसिले में उन्होंने लिखे हैं। चूँकि मैं व्यंग्यपूर्ण-लेखन व हास्यपूर्ण-लेखन दोनों को विनोदपूर्ण लेखन में शामिल करता हूँ इसलिए मेरा आशय यह है कि दोनों रंग के निबंध इस संग्रह में नज़र आते हैं।"

नियाज़ फ़तेहपुरी साहब खुद ही बताएँ "उन निबंधों का संग्रह है जो विनोदपूर्ण लेखन के सिलसिले में उन्होंने लिखे हैं" कितना भोंडा वाक्य है। "सिलसिले" का शब्द जिस तरह से उन्होंने प्रयोग किया है अभिव्यक्ति की अत्यंत असमर्थता का सबूत है। संशोधन करना हमारी ज़िम्मेदारी नहीं लेकिन यह कहे बिना नहीं रह सकते कि पहले वाक्य को यूँ लिखना चाहिए था:

"मुस्कान की कली" जनाब तमकीन काज़िमी के हास्य-निबंधों का संग्रह है।"

और यह व्यंग्यपूर्ण-लेखन व हास्यपूर्ण-लेखन को विनोदपूर्ण-लेखन में शामिल करके इतनी बड़े-बड़े निर्जीव पदार्थों से हम जंतुओं के सिर फोड़ने का प्रयास फ़रमाया है, इस पर हमें एक कहानी याद आई। रेखागणित के एक प्रोफ़ेसर अपनी नौकरानी पर नाराज़ हुए। दिल ग़ुस्से से भरा हुआ था। लेकिन चूँकि कभी गाली देने की आदत न थी इसलिए क्रोध व्यक्त करने के लिए उचित शब्द न मिले। लेकिन नौकरानी को डाँटना भी ज़रूरी था। अतः भिन्नाकर बोले "तुम बड़ी विषमभुज त्रिकोण हो" नौकरानी बेचारी दुबककर रह गई।

यही हाल नियाज़ साहब के उस वाक्य का है, जब उन्होंने निहायत ज़न्नाटे से कह दिया कि मैं अलिफ़ (अ), बे (ब) को जीम (ज) की श्रेणी में रखता हूँ, तो किसी की अब क्या मजाल कि कुछ बोले। नियाज़ साहब ने अपने दिमाग़ पर कुछ आँच भी न आने दी और यहाँ उनके ज्ञान व विद्वता का रौब भी पड़ गया। खुद ही शब्द गढ़े। उनके अर्थ को भी अपने भ्रूण के भीतर ही रहने दिया। और जिसमें जिसको जी चाहा शामिल करते रहे। अगला वाक्य देखें:

"इस समय यूरोप के ज्ञान की कोई शाखा ऐसी नहीं जिसमें यह विशेष लेखन-शैली (यानी ह्यूमर) लोकप्रिय न हो। विशेष रूप से आलोचना, कि यह मुकम्मल ही नहीं हो सकती जब तक इसमें हास्य का गहरा रंग शामिल न हो।"

(क्यों श्रीमान, यह यूरोप का ज़िक्र भी इसी रौब डालने के सिलसिले में कर गए?) अगर ज्ञान के शब्द का प्रयोग नियाज़ साहब ने ग़लत नहीं किया तो निश्चित रूप से दर्शनशास्त्र, गणित, प्राणिविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, रसायन विज्ञान, भूगोल-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, सभी चीज़ें शामिल हैं। खुदा जाने नियाज़ साहब को ज्ञान की इन शाखाओं की कौन सी ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं जो चुटकलों से भरी पड़ी हैं? बाक़ी रही

आलोचना। नियाज़ साहब का कहना है कि हास्य के बिना उनका मुकम्मल होना ही नामुमकिन है। तो अगर एक भी योग्य आलोचक हम उन्हें ऐसा बता दें जो हास्य से रिक्त हो तो उनका यह दावा पोच साबित हो जाएगा। चूँकि नियाज़ साहब का वाक्य "इस समय" से शुरू होता है इसलिए हम सिर्फ़ वर्तमान युग और संक्षिप्तता की ग़रज़ से सिर्फ़ अंग्रेज़ी के आलोचकों को पेशेनज़र रखेंगे। इनमें से टी.एस.एलियट, वर्जिनिया वुल्फ़, कैथरीन मैन्सफ़ील्ड, मिडिल्टन मरे, प्रोफ़ेसर गैरड, विल्सन नाइट इत्यादि की रचनाएँ विशेष रूप से प्रामाणिक मानी जाती हैं। अगर नियाज़ साहब इन नामों से परिचित हैं तो वे फरमाएँ कि इनमें से कौन हास्य-लेखक है? यह सूची साहित्य के आलोचकों की थी। लेकिन नियाज़ साहब का आशय शायद सोशल आलोचकों से है। एच.जी. वेल्स ने वर्तमान समाज की आलोचना में बीसियों पुस्तकें लिख डालीं। एकाध को छोड़कर बाक़ी किसी में हास्य का गहरा क्या, हल्का सा रंग भी नहीं पाया जाता। अर्ल बर्टेंड रसेल, जो दुनिया के मशहूर दार्शनिकों में से है और जिसने वर्तमान समाज पर कई पहलुओं से नुक्ताचीनी की है, भूले से भी कभी हास्य के क्षेत्र में क़दम नहीं रखता। नियाज़ साहब ने जो इतनी बड़ी बात मुँह से निकाल दी और यूरोप और यूरोप में हर ज्ञान की शाखा और आलोचना और आलोचना की पूर्णता, हर बात में अपनी टांग अड़ा दी तो वे किन जाहिलों को संबोधित कर रहे थे? ऐसी बातें तो दोस्तों की संगत में कह लेनी चाहिएँ। इनको कलमबद्ध करके सारे हिन्दुस्तान में उनका प्रचार व प्रसार करना भिड़ों के छत्ते में हाथ डालना है।

यह तो नियाज़ साहब के अध्ययन का हाल था। अब उनकी लालित्यपूर्ण-लेखन शैली का कमाल देखें। लिखते हैं :

"जनाब तमकीन काज़िमी ने हाल ही में इस रंग को अपनाया है। मालूम होता है कि यह रहस्योद्घाटन अभी हुआ है कि वे इस साहित्यिक विधा (अर्थात हास्य-लेखन) पर भी लिखने की योग्यता रखते हैं।"

यह "पर" आपने खूब लगाया। तात्पर्य यह था कि तमकीन साहब ह्यूमर लिखते हैं। लेकिन वाक्य से यह ज़ाहिर होता है कि तमकीन साहब ह्यूमर पर लिखते हैं (यानी ह्यूमर पर आलोचना व समीक्षा लिखते हैं)। वाक्य बहरहाल भोंडा है। यानी अगर नियाज़ साहब के शब्दों में कम-से-कम परिवर्तन करके सुधार किया जाए तो यूँ होना चाहिए था:

" वे इस साहित्यिक विधा 'में' भी लिखने की योग्यता रखते हैं।"

न यह कि वे इस साहित्यिक विधा 'पर' भी लिखने की योग्यता रखते हैं। इस साहित्यिक विधा "पर" लिखने की योग्यता तो खुदा ने नियाज़ साहब को ही प्रदान की है, अत: फ़रमाते हैं:

"हास्यपूर्ण निबंधों की सबसे बड़ी खूबी चित्रण और भाव-विश्लेषण कहलाती है। सो इन दोनों की अच्छी-अच्छी मिसालें इस संग्रह में नज़र आती हैं।"

दूसरे वाक्य में "दोनों" का शब्द प्रयोग करते हैं और पहले वाक्य में एकवचन। *बसोख़्त अक़्ल ज़ हैरत कि ईं चेह बुलअजबी अस्त* (बुद्धि आश्चर्य से जल गई कि यह कैसा इंद्रजाल है) नियाज़ साहब का कथन है कि जो मुहावरे या शब्द पालने से कानों में पड़े हैं उनके विपरीत कोई आवाज़ अगर कान में आ जाती है तो थोड़ी देर के लिए श्रवण उद्विग्न हो जाता है। हम नियाज़ साहब की सेवा में विनती करते हैं कि वे अपने दूध पीने के

ज़माने को याद करें फिर इस वाक्य को पढ़ें और फिर हमें बताएँ कि उनके श्रवण को उद्विग्नता महसूस होती है या हर प्रकार से कुशल-मंगल मालूम होता है। क्या यहाँ "ख़ूबी" के बजाय "ख़ूबियाँ" और "है" के बजाय "हैं" न होना चाहिए?

लेकिन इस बात को जाने दीजिये। यह भाषा की समस्या है। इसमें उन अहल-ए-ज़बान (मातृभाषियों) ही को आपस में निपटने दीजिये जो सुबह-शाम अपने भाषा-पांडित्य का ढोल बजाते रहते हैं। वाक्य के अर्थ पर ग़ौर कीजिये। नियाज़ साहब मनोविज्ञान की एक समस्या बयान कर गए हैं और कमाल यह है कि बिना सोचे-समझे बयान कर गए हैं। किस भोलपन से फ़रमाते हैं कि "हास्यपूर्ण निबंध की बड़ी ख़ूबी चित्रण और भाव-विश्लेषण कहलाती है।" (यह "कहलाती है" की भी ख़ूब कही। यह न बताया कि कौन कहता है। बस कह दिया कि कहलाती है। ख़ुद भी ज़िम्मेदारी से छूटे और इस सारांश से प्रभाव भी पैदा कर लिया कि जैसे हमने बड़े-बड़े विद्वानों के विचारों का निचोड़ प्रस्तुत कर दिया। अब हम तुम अनपढ़ लोगों के सामने किस-किस फिलास्फ़र का नाम लें। तुम्हारे लिए इतना काफ़ी है कि कहलाती है) अफ़सोस नियाज़ साहब ने यह न बताया कि हास्यपूर्ण निबंधों की बड़ी-बड़ी ख़ूबियों का अवकलन उन्होंने कैसे कर लिया? न उन्होंने कोई उदाहरण प्रस्तुत किया न तर्क और बात इस धड़ल्ले से की है कि मानो चलते-चलते आलोचना-शास्त्र के राजमार्ग पर मील का एक पत्थर ही तो स्थापित कर गए हैं। ऐसी निराधार बात का खंडन कोई किस तरह करे? अलबत्ता अगर नियाज़ साहब कभी इस विषय पर कोई पृथक लेख लिखें और उसमें इस दावे को सच साबित करने की कोशिश करें तो इंशा अल्लाह अगर फ़ुर्सत रही तो उसका जवाब ज़रूर लिखा जाएगा। इतना हम उनसे कहे देते हैं कि वे इस प्रकार का लेख लिखने से पहले बर्गसाँ की "हँसी" नामक पुस्तक या मेरेडिथ का लेख ज़रूर किसी से पढ़ लें कि उनसे बेहतर इस विषय पर कम लोगों ने लिखा है। आश्चर्य है कि नियाज़ साहब यूरोप में ज्ञान की हर शाखा को जानते हुए भी इन किताबों से अभी तक वाकिफ़ नहीं। यह हमने इस लिया फ़र्ज़ कर लिया कि उन्होंने इन दो लेखकों का अध्ययन किया होता तो कम-से कम ऐसी बहकी-बहकी बातें न करते। हम और हम जैसे कई नवदीक्षित अभी तक पाठशालाओं की आरंभिक कक्षाओं में शिक्षा पा रहे थे कि नियाज़ साहब के यश का सूर्य पूरी आबोताब से चमक रहा था। मगर अफ़सोस कि इस अनुभव की तुलना में उन्हें अपनी ज़िम्मेदारी का अहसास बहुत कम है। जिन विषयों पर वे क़लम उठाते हैं उनका दायरा माशाअल्लाह दिन-प्रति दिन विस्तृत होता जा रहा है। अगर उनके लालित्य लेखन के शौक़ के साथ-साथ उनका ज्ञान भी विस्तृत होता रहता या कम से-कम वे अपने शौक़ के उल्लास को अपने ज्ञान के दायरे तक ही सीमित रखते तो बहुत बेहतर होता।

"प्रभावान्विति" मौलाना अहसन मारहरवी के क़लम की शक्ति का परिणाम है। इस प्रस्तावना में सिर्फ़ एक ही ख़ूबी है, वह यह कि संक्षिप्त है। आरम्भ में ध्वनि-विज्ञान के एक अत्यंत सरल और साधारण नियम को (स्वर बदले तो अर्थ भी बदल जाते हैं) बड़े तूर्यनाद के साथ गले की रगें फुला-फुलाकर और एक, दो, तीन, चार नम्बर देकर बयान किया है और सीधी-साधी बात को वह उलझाया है कि अनर्गल वर्णन को हमेशा के लिए अहसन मारहरवी का पर्यायवाची बना दिया है। तत्पश्चात इस नियम से जो निष्कर्ष निकाला है वह हम उन्हीं के शब्दों में दोहराए देते हैं। (पाठकों से विनती है कि निम्नलिखित वाक्यों को बेहद ग़ौर से पढ़ें):

"कहने का अर्थ यह है कि हर भाषा अपने प्रशिक्षण के चरणों में विभिन्न प्रभाव रखती है और उसकी प्रगतिशील अवस्था साधारण लेखन व संकलन, राजनीतिक लेक्चर, हिन्दी उपदेश और रोज़मर्रा बातचीत में एक दूसरे से पृथक नज़र आती है। इन सब विभिन्नताओं के बाद भाषण लेखन की गंभीरता व विनोदप्रियता एक विशेष प्रभाव प्रकट करती है जो हर साहित्यिक भाषा में मनोरंजन के लिए ज़रूरी व मौलिक घटक है।"

अहसन साहब अलीगढ़ में साहित्य के प्रोफ़ेसर हैं। अलीगढ़ में काव्य-रसिक, क़ाबिल, ज़हीन, और भाषा-मर्मज्ञ सज्जनों की कमी नहीं। खुदा के लिए उनमें से कोई साहब इस भुतही भाषा का उर्दू में अनुवाद करके हमें इसका मतलब समझा दें।इन दो वाक्यों में व्याकरण की कई ग़लतियाँ हैं। कई शब्दों का प्रयोग अर्थ के लिहाज़ से ग़लत है। लेकिन उसको गिनवाने से क्या फ़ायदा? तमकीन साहब खुद ही फ़रमाएँ कि क्या वे इन वाक्यों का मतलब समझते हैं और अगर समझते हैं तो क्या उन्होंने खुद ही समझ लिया था या किसी ज्योतिषी से इसके अर्थ पूछे हैं? क्या सरलता, सहजता, विनोदप्रियता, और प्रवाह इसी का नाम है? बहुत संभव है कि साहित्य के प्रोफ़ेसर ऐसी भाषा लिखते हों। बहरहाल अहसन साहब की प्रोफ़ेसरियत के सामने आकर हर वाक्य शिष्यता हेतु इस ज़ोर से माथा टेकता है कि अर्थ तो पिचककर बाहर निकल जाता है और शब्दों में घट्ठे पड़ जाते हैं। इसी अंदाज़ के एक-दो पृष्ठ लिखकर प्रोफ़ेसर साहब ने प्रास्तावना का ख़ात्मा एक शेर पर क्या है:

मुस्कान की इक कली है तमकीन काज़िमी
ऐसा रसिक कि जिसमें गुरुता है लाज़मी

जिस तरह साहित्य के प्रोफ़ेसर अहसन साहब की प्रस्तावना में सिर्फ़ एक ही खूबी है कि संक्षिप्त है उसी तरह हज़रत दाग़ देहलवी के शिष्य अहसन साहब के शेर में सिर्फ़ एक ही खूबी है कि छंदबद्ध है वरना क्या प्रस्तावना और क्या शेर, *करिश्मा दामन-ए-दिल मी कशद कि जा ईंजा अस्त*[1] अहसन साहब से हम और तो क्या कहें, सिर्फ़ इतना अर्ज़ करते हैं कि अगर लाज़मी का लफ़्ज़ लाना ऐसा ही लाज़मी था तो "काज़िमी" को "काज़मी" तो लिख लिया होता कि इससे शेर की प्रतिष्ठा में कोई फ़र्क़ न आता।

प्रस्तावना नम्बर 3. मुल्ला रमूज़ी साहब की लिखी हुई है। मुल्ला रमूज़ी भी तमकीन काज़िमी साहब की तरह अपने नाम के साथ एम.आर.ए.एस. (लन्दन) ज़रूर लिखते हैं। हालाँकि वे जानते हैं कि यह कोई अकादमिक प्रमाण पत्र नहीं, केवल चंदा देते रहने का प्रमाण है। यानी अगर भारत में दरिद्रता न हो तो भील गोंड तक सब एम.आर.ए.एस. हो सकते हैं। बुद्धिजीवियों के निकट इनका महत्त्व तो आर.एस.वी.पी. से भी कम है और फिर ये लोग एम.आर.ए.एस. के बाद कोष्ठक के अन्दर लन्दन इस अनिवार्यता से लिखते हैं मानो ख़ास जॉर्ज पंचम के शुभ कर कमलों से प्रमाण-पत्र प्राप्त किया है। उनसे हमारी विनती है कि झांसा-पट्टी का यह

---

[1] ज़ फ़र्क़ ता ब-क़दमश हर कुजा कि मी निगरम // करिश्मा दामन-ए-दिल मी कशद कि जा ईंजा अस्त (नज़ीरी)
अर्थात उसके सिर से लेकर उसके क़दमों तक मैं जहाँ भी (जिस अंग को भी) देखता हूँ उनकी सुन्दरता मेरे दिल के दामन को खींचती है कि देखने की जगह यहीं है। (अनुवादक)

आचरण त्याग दें और नए वर्ष से अपने नाम के साथ यह निरर्थक अक्षर लिखना छोड़ दें। एम. आर.ए.एस. (लन्दन) लिखने से तो "मैट्रिक (शिकार पुर)" लिखना अधिक सम्मानजनक होगा।

मुल्ला रमूज़ी साहब की प्रस्तावना भी उसी असंगतता का दर्पण है जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने लाहौर वाले भाषण में की थी। नियाज़ साहब की भांति मुल्ला रमूज़ी साहब ने भी हास्य-लेखन पर छिन्न-भिन्न विचारों को अभिव्यक्त किया है। फ़रमाते हैं:

"हास्य-रचना वह है जो पढ़ने वाले को उस मौक़े पर हँसा दे जहाँ हँसने के लिए उसका दिल न चाहता हो। और हास्य-लेखक वह है जो हद से ज़्यादा हँसी पैदा करने वाली रचना लिखता चला जाए और यह न समझे कि मैं हास्य रचना लिख रहा हूँ।"

माशाअल्लाह क्या तथ्य बयान किये महोदय ने! यानी हास्य-रचना वह है जो पढ़ने वाले को हँसा दे। (यह विचार-बिंदु सृष्टि-रचना के आरम्भ से आज तक शून्य के घूँघट में मुँह छिपाए प्रतीक्षा कर रहा था कि बीसवीं शताब्दी में कोई मुल्ला रमूज़ी जन्म लेंगे जो इसका घूँघट उठाकर इसे संसार के सामने प्रकट करेंगे) हास्य-लेखक वह है जिसकी रचना पर हँसी तो आये लेकिन वह यह न समझे कि मैं हंसा रहा हूँ। अगर यह सही है तो हर बड़े-से-बड़ा मूर्ख, हर नादान बच्चा, हर ग़लत-सलत उर्दू बोलने वाला अंग्रेज़ हास्यकार है, क्योंकि उन लोगों को इस बात का अहसास भी नहीं होता कि हम हँसा रहे हैं और अगर उनकी बातें हूबहू लिख ली जाएँ तो हँसी की सामग्री उपलब्ध हो जाती है। मुल्ला रमूज़ी दरअसल कहना कुछ चाहते थे, मुँह से निकल गया कुछ (अधिक लिखने वालों में यह दोष अक्सर पाया जाता है) । तात्पर्य उनका यह था कि हास्य-लेखक वह है जिसकी रचना पर हँसी तो आये लेकिन उसमें हँसाने की कोशिश स्पष्ट रूप से प्रकट न हो। यह मानदंड एक हद तक सही है लेकिन अफ़सोस कि मुल्ला रमूज़ी खुद इस मानदंड पर पूरे नहीं उतरे। प्रस्तावना का पहला ही वाक्य पढ़िए:

"अगर कुएँ के बराबर गहरी और तालाब के बराबर चौड़ी नज़र से देखा जाए तो ....."

नैतिकता का तक़ाज़ा यही है कि हम इस वाक्य को हास्य-वाक्य समझकर एक ठहाका लगाएँ लेकिन वास्तविकता यह है कि यह हमारी नैतिकता की बहुत बड़ी परीक्षा है।

मुल्ला रमूज़ी साहब बहुत लिखने को लालित्यपूर्ण शैली का सबसे बड़ा कमाल समझते हैं। लिहाज़ा इसी लिए अपने और तमकीन साहब और सालिक साहब के प्रशंसक हैं। फ़रमाते हैं:

"हम तो मौलवी तमकीन काज़िमी की लालित्यपूर्ण शैली के क़ायल हुए तो इसीलिए कि उन्हें जब देखा यही कि बस लिख रहे हैं और छपवा रहे हैं।"

मुल्ला रमूज़ी साहब ने खुद भी मुद्दत से यही ढंग अपना लिया है कि बस लिख रहे हैं और छपवा रहे हैं। इससे श्री दिव्य-दृष्टा जी की चयन-दृष्टि बहुत कमज़ोर हो गई है। जब निबंध रचना की पराकाष्ठा यही मान ली जाए कि इंसान रोज़ाना दो-तीन मन निबंध लिख डाले तो वज़न पूरा करने के लिए इधर-उधर की असंगत बातें करना आवश्यक हो जाता है।

मुल्ला रमूज़ी साहब ने इस प्रस्तावना में कई जगह अरसिकता का सबूत दिया है, लेकिन चूँकि उन्होंने प्रस्तावना हास्य के रंग में लिखने की कोशिश की है इसलिए हम ऐसी बातों को मज़ाक़ समझकर उनको नज़र-अंदाज़ करते हैं। अलबत्ता एक अरसिकता ऐसी है कि मज़ाक़ का बहाना भी उसे अपने दामन में पनाह नहीं दे सकता। उन्होंने सुहा साहब का ज़िक्र जिन शब्दों में किया है, अत्यंत घृणास्पद है। किसी व्यक्ति के शारीरिक दोषों की हँसी उड़ाना, और वह भी एक पुस्तक के पृष्ठ पर, किसी सभ्य समुदाय में उचित नहीं। यही बात है तो कल को आप अंधों और कानों और लूलों और लंगड़ों की भी हँसी उड़ायेंगे और अपने हास्य-लेखन पर गर्व करेंगे। यह हास्य जाहिलों का हास्य है। शरीफ़ों के लिए और बेशुमार बातें हँसने और व्यंग्य करने को मौजूद हैं। उन पर लिखने की कोशिश कीजिये। धर्म के विद्वान को कम-से-कम नैतिकता से तो वाक़िफ होना चाहिए।

चूँकि यह प्रस्तावना मुल्ला रमूज़ी ने हास्य के रंग में लिखी है इसलिए तमकीन साहब को ख़याल हुआ कि हम भला क्यों पीछे रह जाएँ। जहाँ-जहाँ रमूज़ी साहब ने कोई मज़ाक़ की बात की, वहीं आप भी नीचे एक नोट देकर दुनिया को याद दिलाते चले गए कि "इस हँसी मज़ाक़ में कहीं हमें न भूल जाइये। मुल्ला साहब हास्य-लेखक सही, लेकिन पुस्तक तो बहरहाल हमारी है।" मुल्ला रमूज़ी ने कहा "हमें इससे कोई बहस नहीं कि तमकीन साहब के अन्दर मेहमान-नवाज़ी की योग्यता है या नहीं।" आपने इस पर नोट चढ़ाया कि "हरगिज़ योग्यता नहीं वरना ज़रूर आपको हैदराबाद बुलाता।" (काव्य-रसिक लोट-लोट गए। आ हा हा हा) मुल्ला साहब ने कहा "आप शेरवानी क्यों पहनते हैं और कोट से क्यों नफ़रत है?" आपने फ़ौरन मोटे क़लम से जवाब दिया कि "भई, कभी कोट पतलून भी पहनता हूँ।" (हा हा हा) मुल्ला साहब ने कहा "इन निबंधों को प्राप्त करके नरक की अग से सुरक्षित हो जाइए।" आपने नोट लगाया कि "मुसलमानो सबक़ सीखो!" (हा हा हा) मुल्ला साहब ने कहा "अल्लाह इन्हें मनसबदार बना दे।" आपने झट सुधार किया कि "आपकी दुआ से मंसब तो हमें अब भी प्राप्त है।" (निर्धन व कंगाल लोग तुरंत रौब में आ गए)। वाह वा! सुबहान-अल्लाह! क्या साहितियिक फुलझड़ियाँ हैं।

"उपक्रम" के लिखने वाले मौलवी अब्दुल मुनइम साहब सईदी भी तमकीन साहब और मुल्ला रमूज़ी की तरह डंके की चोट पर एम. आर.ए.एस. (लन्दन) हैं। इनमें स्पस्ट रूप से अहंकार बाक़ी प्रस्तावना-लेखकों की तुलना में कम है, लेकिन लाक्षणिक रूप से विद्वता के दावे में इनकी भी आवाज़ काफ़ी बुलंद है। लेखन-शक्ति को स्व-प्रदर्शन की बनिस्बत दोस्त-नवाज़ी में ज़्यादा ख़र्च किया है। फिर भी एक तमकीन साहब की महानता साबित करने के लिए विक्टर ह्यूगो, हर्बर्ट एलिस, मैथ्यू अर्नाल्ड, गारान रस्किन, लिंकन और एमर्सन के कथन उद्धृत कर-करके उन सुविख्यात व्यक्तियों को मुफ़्त में बदनाम किया और अपने दोस्त को निहायत नेकनीयती के साथ हास्यास्पद बना दिया। उद्धरण प्रस्तुत करने में सईदी साहब को विशेष महारत हासिल है। मैथ्यू अर्नाल्ड का कथन उद्धृत किया तो वह ग़लत (और उसके अर्थ भी ग़लत समझे) और लिंकन का कथन उद्धृत किया तो वह ग़लत।

अहसन मारहरवी साहब की तरह सईदी साहब की काव्य-रसिकता भी उल्लेखनीय है। ग़ालिब का एक मिसरा (पंक्ति) उद्धृत किया कि "हर बुलहवस ने हुस्न परस्ती शेआर की" तो "हुस्न-परस्ती" को "इश्क़-परस्ती" बना दिया। इसके अतिरिक्त तीन शेरों से अपने विचारों को सुसज्जित किया है। पहला शेर यह है:

बुतो शाबाश क्या कहना तरक्क़ी इसको कहते हैं
न तरशे थे तो पत्थर थे, जो तरशे तो खुदा ठहरे

दूसरा मिसरा तो ख़ैर फिर भी गुज़ारे के क़ाबिल है, लेकिन पहले मिसरे में जैसे बेलचों से भर्ती की गई है। दूसरा शेर देखें:

ज़माना एक तरह पर कभी नहीं रहता
इसी को अहल-ए-जहाँ इन्क़लाब कहते हैं

अगर सईदी साहब को इसी स्तर के शेर याद रखने और दोहराने का शौक़ है, तो निम्नलिखित शेर भी नोट करलें, किसी और प्रस्तावना में काम आएगा।

अभी सफ़ेद थे बाल और अभी स्याह हुए
इसी को लोग अमूमन ख़िज़ाब कहते हैं!

तीसरा शेर अलबत्ता अच्छा है और उसके अच्छा होने की वजह से सईदी साहब कुछ ऐसे दुबिधा में पड़ गए कि उन्होंने उसके नीचे झट कोष्ठक में 'इक़बाल' का नाम लिख दिया ताकि पढ़ने वाले सईदी साहब को इसका ज़िम्मेदार न समझें।

इस प्रस्तावना के पहले भाग में तमकीन साहब के पारिवारिक हालात सविस्तार बयान किये गए हैं। हम तमकीन साहब के बुज़ुर्गों को अत्यंत आदरणीय समझते हैं और उनकी शान में गुस्ताख़ी का एक शब्द भी मुँह से निकालना परले दर्जे की नीचता। लेकिन उन्हीं के आदर के कारण यह कहना ज़रूरी समझते हैं कि अगर यह भाग हटा दिया जाता तो बेहतर था। आख़िर संतान के पापों का दंड पूर्वज क्यों भुगतें और फिर अच्छी बात भी बे-मौक़े की जाए तो बुरी मालूम होती है। तमकीन साहब आख़िर कहाँ के इतने बड़े लेखक हैं और उनकी रचनाएँ ऐसी भी क्या विचारोत्तेजक हैं कि पढ़ने वाले उनके पारिवारिक हालात सविस्तार मालूम करने के लिए बेक़रार हो जाएँ।

दूसरे भाग में सईदी साहब ने उर्दू के हास्य-लेखकों पर एक-एक करके आलोचना लिखी है, या आलोचना करने की कोशिश फ़रमाई है। सईदी साहब के पास विचारों का अभाव है इसीलिए बेचारे किसी की प्रशंसा करते समय असहाय हो जाते हैं। आलोचना के तीन-चार नमूने देखें:

1. इस कला को उर्दू में स्थाई रूप से सबसे पहले मुंशी सज्जाद हैदर ने अपनाया और बहुत उम्दा लिखते रहे।
2. पतरस ने लाइट ह्यूमर लिखा और खूब लिखा।
3. फ़रहतुल्लाह बेग ने भी लाईट ह्यूमर लिखना शुरू किया और खूब लिखा।
4. इम्तियाज़ अली ताज साहब ने भी "चचा छक्कन" का सिलसिला शुरू किया और खूब लिखने लगे।

इसके बाद हम इसके अतिरिक्त और क्या कहें कि हज़रत आपने भी आलोचना का सिलसिला शुरू किया और ख़ूब लिखा। लेकिन वैचारिक दरिद्रता के बावजूद (या शायद इसी वैचारिक दरिद्रता के कारण) साधारण सी बात को भी विद्वतापूर्ण शैली में बयान फ़रमाते हैं। मसलनः

"उर्दू साहित्य का अध्ययन गहन दृष्टि से कीजिए तो मालूम होगा कि इस कला को उर्दू में स्थाई रूप से सबसे पहले मुंशी सज्जाद हैदर ने अपनाया।"

इतनी मामूली सी बात के मालूम करने के लिए जिससे हिन्दुस्तान का हर पढ़ा-लिखा बच्चा वाक़िफ़ है "उर्दू साहित्य का गहन दृष्टि से अध्ययन करना" खोदा पहाड़ निकली घास" के सामान है। यह शग़ल सईदी साहब ही को मुबारक हो। एक और जगह दोस्ती का हक़ यूँ अदा किया हैः

"बहरहाल मैं ख़ुश हूँ कि आज वह चीज़ पेश कर रहा हूँ जो हर हैसियत से पूर्ण है।"ज़िक्र तमकीन साहब के निबंधों के संग्रह का है, लेकिन वाक्य वह प्रयोग किया है जो अक्सर पैग़म्बर भी अपने धर्म-ग्रंथों के संबंध में प्रयोग करते हुए संकोच करें। सईदी साहब शायद "पूर्ण" के अर्थ नहीं जानते। उन्होंने इसे भी "ख़ूब" और "उम्दा" की क़िस्म का एक मामूली शब्द समझ लिया है..... आख़िर में सईदी साहब ने तमकीन साहब के साथ ईर्ष्या और द्वेष रखने वालों के ख़िलाफ़, जिनकी संख्या उनके कथनानुसार "बहुत काफ़ी हो गई है," बहुत कुछ ज़हर उगला है। चूँकि हम उन ईर्ष्यालुओं के नाम तक से वाक़िफ़ नहीं, न हमारी समझ में आता है कि कोई तमकीन साहब से प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या और द्वेष रखे तो क्यों, इसलिए हमें सईदी साहब के ज़ोरदार वाक्यों में चिड़चिड़ेपन और बदहज़मी के अतिरिक्त और कुछ नज़र नहीं आता। मगर हम सईदी साहब से पूरी तरह सहमत हैं। जो लोग तमकीन साहब से ईर्ष्या करते हैं, उनकी मानसिक हालत वाक़ई दुखद है।

अंत में हम अत्यंत स्पस्ट रूप से पाठकगण यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हमें इन पाँच सज्जनों से, ख़ुदा माफ़ करे, कोई निजी दुश्मनी नहीं। दुश्मनी तो दूर हमें तो दुख है कि हमें मुलाक़ात तक का सौभाग्य प्राप्त नहीं। लेकिन जब ये पाँचों अश्वारोही एक साथ साहित्य की रणभूमि में उतरते हैं और अपनी मोरचा लगी तलवारों और अपने घिसे-पिटे साज़-सामान के बावजूद कर्णभेदक नारों के साथ साहित्य की आत्मा और परिष्कृत स्वभावों को युद्ध का निमंत्रण देते हैं तो हर बुद्धिमान व प्रौढ़ व्याक्ति का दायित्व है कि इस निमंत्रण का उत्तर दे। हमारी अपनी राय इन पाँच ललित निबंधकारों की रचनाओं के सम्बन्ध में यह है कि बुरा भी लिखते हैं, अच्छा भी लिखते हैं। जब हिन्दुस्तान में साहित्य- सृजन की यह दशा है कि हर भले-बुरे की खपत हो सकती है तो हम उन पर क्यों आपत्ति जताएं। लेकिन जब ये लोग आलोचना करने बैठते हैं तो ऐसी ऊटपटांग बातें इतने आत्मविश्वास के साथ करते हैं कि उनके दंभ के बुलबुले में छेद करना उन पर अहसान और उर्दू पाठकों के साथ भलाई करना है। तमकीन साहब ने एक पुस्तक लिखी थी तो ख़ामोशी, गंभीरता और शराफ़त के साथ उसे बाज़ार में बेच देते, सही रायों से लाभान्वित होते, ग़लत रायों को नज़रअंदाज़ कर देते। यह संभव न था कि कम-से-कम विनम्रता के नाते ही अक्सर पढ़े-लिखे लोग पुस्तक की प्रशंसा न करते। लेकिन उन्होंने किताब क्या लिखी है किताब का जुलूस निकाला है। एक परिष्कृत स्वभाव लेखक को इस प्रकार की बाज़ारी हरकतों से गुरेज़ ज़रूरी है। प्रस्तावना-लेखकों की सेवा में हमारी सादर विनती है कि पगड़ी अपनी विद्वता के

अनुसार रखें। चुल्लू भर पानी में गज़ भर न उछलें। विद्वान वही है जिसका अंदाज़ उम्र भर विद्यार्थियों जैसा रहे। बड़े-बड़े दावे करना और एक दफ़ा क़लम से जो निकल जाए उसे पुनरावलोकन तक का मोहताज न समझना अज्ञानता की निशानियाँ हैं। लिंकन का कथन है:

"तुम कुछ लोगों को हमेशा के लिए और सब लोगों को थोड़े समय के लिए धोखा दे सकते हो, लेकिन सब लोगों को हमेशा के लिए बेवक़ूफ़ नहीं बना सकते।"

हम जानते हैं कि हमारे इस लेख से उपर्युक्त भाषा पंडितों को कष्ट भी पहुंचेगा और शर्म भी आएगी। अगर शर्म कष्ट पर हावी हो गई तो हम इसके उत्तर से वंचित रह जाएंगे। अगर कष्ट शर्म पर हावी हो गया तो हैदराबाद, गुलबर्गा, भोपाल, अलीगढ़ और लखनऊ में "लाइयो तो क़लमदान[1]!" की आवाज़ें बुलंद होंगी। हालाँकि हमारा हार्दिक सुझाव यही है, कि आयं-बायं-शायं करने के बजाय चुप रहना बेहतर है। आगे आप स्वयं सोच लीजिये। हमारी तरफ़ से चाहे आप सब हज़रात किसी केन्द्रीय-स्थल पर सिर जोड़कर कोई उत्तर संकलित कर लीजिए, चाहे अलग-अलग पंजा लड़ा लीजिए, हम हर तरह से तैयार हैं। हम तो बल्कि आपसे "झांपलिज़्म" तक की उम्मीद रखते हैं।

बाक़ी रही "मुस्कान की कली" यह पुस्तक एक बेहद आदरणीय बुज़ुर्ग की तस्वीर से शुरू होती है और एक ऐसे निबंध पर ख़त्म होती है जो बाज़ारी अश्लीलताओं से भरा हुआ है। इस निबंध में तमकीन साहब ने जिस कोक-शास्त्रीय मानसिकता का प्रदर्शन किया है उसके आसार न सिर्फ़ उनके बाक़ी निबंधों में बल्कि हिन्दुस्तान के अक्सर हास्य-लेखकों की रचनाओं में पाए जाते हैं। उन पर आलोचना लिखना उनकी दुर्गन्ध को और फैलाना है।

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

[1] अठारवीं शताब्दी के और मीर तक़ी 'मीर' के समकालीन उर्दू के महान कवि व व्यंग्यकार मिर्ज़ा मोहम्मद रफ़ी 'सौदा' जब अपने समकालीन कवियों पर नाराज़ होते तो अपने नौकर से कहते "लाइयो तो क़लमदान"। फिर वे कवि को तीखे और अक्सर गाली-गलूच भरे भद्दे व्यंग्य से उधेड़कर रख देते । वह शहर में मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता था। (अनुवादक)